

बिगुल पुस्तिका-7

# ‘जंगलनामा’ एक राजनीतिक समीक्षा

डॉ. दर्शन खेड़ी



राहुल फ़ाउण्डेशन

लखनऊ

**ISBN 978-81-87728-99-3**

**मूल्य : रू. 5.00**

**प्रथम संस्करण : जनवरी, 2008**

**प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन**  
69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,  
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

**आवरण : रामबाबू**

**टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन**

**मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ**

---

**Jangalnama—Ek Rajneetik Sameeksha**

**by Dr. Darshan Kheri**

श्री सतनाम द्वारा पंजाबी भाषा में लिखी किताब 'जंगलनामा' की इन दिनों पंजाब के क्रान्तिकारी हलकों में काफ़ी चर्चा हो रही है। एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन द्वारा जिस ज़ोरदार ढंग से इस किताब का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है और अलग-अलग स्थानों पर इसके ऊपर गोष्ठियाँ आयोजित की जा रही हैं, उससे इस किताब को एक हद तक तो चर्चा में आना ही था। किताब के बारे में लेखक का कहना है, “‘जंगलनामा’, जंगलों से सम्बन्धित कोई खोज पुस्तिका नहीं है। न ही यह किसी कल्पना लोक में से पैदा हुई आधी हकीकत और आधा फ़साना बयान करने वाली कोई साहित्यिक रचना है। यह बस्तर के जंगलों में सक्रिय कम्युनिस्ट गुरिल्लों की रोज़ाना ज़िन्दगी की एक तस्वीर और वहाँ के आदिवासी लोगों के जीवन और जीवन परिस्थितियों का विवरण है जिसे मैंने अपने जंगल भ्रमण के दौरान देखा। इसलिए आप इसे किसी डायरी के पन्ने कह सकते हैं या सफ़रनामे का नाम दे सकते हैं।”

लेकिन वास्तव में यह पुस्तक इससे ज़्यादा भी कुछ है। यह भारत में नक्सलवाड़ी की घटना के बाद उभरी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर में आगे चलकर हुए बिखराव की उपज मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर के एक संगठन द्वारा बस्तर के जंगलों में जल, जंगल और ज़मीन के लिए आदिवासियों के हक़ के लिए की जा रही सशस्त्र कार्रवाइयों का बयान भी है और यह साबित करने की अप्रत्यक्ष कोशिश भी है कि दरअसल यही संगठन अमल में सही साबित हुआ है। बस्तर के जंगलों में चल रही गतिविधियों को इसकी गवाही के तौर पर पेश किया गया है। यह अप्रत्यक्ष कोशिश इसलिए है क्योंकि पूरी किताब में लेखक ने उस संगठन का नाम तक नहीं लिया है और न ही भारतीय समाज, भारतीय क्रान्ति के प्रोग्राम, युद्धनीति और दाँव-पेंच के बारे में उसकी समझ का ही कोई ज़िक्र किया है। पूरी किताब पढ़ने के उपरान्त इस प्रकार का प्रभाव पैदा होता है जैसे आदिवासी स्वतःस्फूर्त ढंग से लड़ रहे हों, जैसे गुरिल्ला दस्ते और बन्दूक ही सभी कुछ हों, इन गुरिल्ला दस्तों और बन्दूक की अगुवाई कोई राजनीति भी

करती है या नहीं इसका कोई जिक्र ही नहीं है।

इस पुस्तक के प्रशंसकों-प्रचारकों द्वारा इस पुस्तक की पेशकारी ऐसे की जा रही है जैसेकि बस्तर के आदिवासियों के संघर्ष (जिसका इस पुस्तक में भरपूर वर्णन है) की अगुवाई करने वाले दल की राजनीतिक समझ की अमल में पुष्टि हो गयी है पर थोड़ा-सा भी गौर से पढ़ें तो पता चलता है कि यह किताब इसके ठीक उलटा साबित कर रही है। उपरोक्त संगठन भारतीय समाज को अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक समाज मानता है। इसके अनुसार भारतीय समाज चीनी तर्ज की नव-जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में है, जो चीनी क्रान्ति की ही तरह दीर्घकालीन लोकयुद्ध द्वारा इलाका-दर-इलाका सत्ता पर कब्ज़ा करते हुए पूरी होगी। यह संगठन पिछले पचास वर्षों में भारतीय समाज के कोने-कोने में हुई पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की घुसपैठ से ही इन्कार करता है।

लेकिन 'जंगलनामा' ही इस बात की गवाही देता है कि भारत में दीर्घकालीन लोकयुद्ध की युद्धनीति कारगर नहीं हो सकती है, कि यहाँ देशव्यापी आम बगावत की युद्धनीति ही कारगर हो सकती है, कि भारत के अत्यन्त पिछड़े हुए इलाके भी पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की पकड़ में आ चुके हैं। यह इस बात का भी गवाह है कि इस संगठन द्वारा चलाया जा रहा 'सशस्त्र संघर्ष' भी पूरी तरह ठहराव का शिकार है। अपने इन दावों को हम 'जंगलनामा' द्वारा मुहैया कराये गये तथ्यों से ही सही सिद्ध करेंगे।

1947 में भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक सत्ता में बैठने के बाद शुरू हुई पूँजीवादी विकास प्रक्रिया आज प्रभावी प्रणाली का रूप धारण कर चुकी है। यहाँ तक कि 1967 में नक्सलबाड़ी की घटना के समय भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की भारतीय समाज के बारे में समझ ग़लत थी। तब भी भारत को अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक देश कहना ग़लत था। उस समय ही भारत को मुख्य रूप से पूँजीवादी समाज कहा जा सकता था, पर आज तो यह प्रक्रिया बहुत आगे बढ़ चुकी है। अगर आज भी कोई भारतीय समाज को पूँजीवादी समाज मानने से इन्कार करता है तो उसके पिछड़ेपन के ऊपर तरस ही खाया जा सकता है। फ्रेडरिक एंगेल्स का कहना है कि उत्पादक शक्तियों के विकास की सबसे घनीभूत अभिव्यक्ति उस देश की फ़ौजी ताक़त में होती है। आज के भारत की सैनिक शक्ति ही भारत में हुए पूँजीवादी विकास के बारे में शक की कोई गुंजाइश नहीं रहने देती। आज की दुनिया में अमेरिका, रूस और चीन के बाद भारत चौथी

बड़ी सैनिक शक्ति माना जाता है जोकि संख्या (लगभग 12 लाख) के हिसाब से तो बड़ी है ही, बल्कि आधुनिकतम सैन्य साज-सामान से भी लैस है। किताब के पेज 21 पर बंगाली साथी ने ठीक ही नोट किया है, “करोड़-करोड़ आबादी के शहर अस्तित्व में आ चुके हैं। संचार साधनों का जाल पहले से कहीं घना हो गया है। हुकूमत भी पहले से कहीं अधिक सैन्य शक्ति की मालिक बन चुकी है।”

इस बंगाली साथी की बात में थोड़ा और इज़ाफ़ा कर दें। भारत में हो रहा तेज़ रफ़्तार शहरीकरण अब जगज़ाहिर है। 1991 में भारत में 21 मेट्रो शहर (10 लाख या इससे ज़्यादा आबादी वाले शहर) थे जो कि 2001 में बढ़कर 35 हो गए हैं। मुम्बई की गिनती आज दुनिया के सबसे बड़े महानगरों में होती है। 2001 में मुम्बई की आबादी एक करोड़ साठ लाख थी। बस्तर तो क्या समूचे दण्डकारण्य की आबादी इसकी आधी भी नहीं होगी। आने वाले सालों में ग्रामीण क्षेत्रों से और भी बड़े पैमाने पर आबादी शहरों की तरफ़ जायेगी। बंगाली साथी के नेताओं के सोचने वाली बात यह है कि भारत की धरती पर करोड़-करोड़ आबादी वाले शहर क्यों अस्तित्व में आ रहे हैं, पर भारत के पूँजीवादी विकास को सिरे से ख़ारिज कर रहे इन नेताओं से ऐसे सवालियों के जवाब की उम्मीद ही क्या की जा सकती है! यह तेज़ रफ़्तार शहरीकरण भारत में हो रहे तेज़ रफ़्तार पूँजीवादी विकास का ही नतीजा है। यह दर्शाता है कि शहरों में औद्योगिक, व्यापारिक और इनसे सम्बन्धित गतिविधियों का प्रसार हो रहा है, जो खेती में पूँजीवादी विकास के कारण खेती क्षेत्र से बाहर हो रहे छोटे किसानों के अच्छे-खासे हिस्से को खपा रहा है।

बंगाली साथी का यह कहना भी बिल्कुल दुरुस्त है कि संचार साधनों का जाल पहले से कहीं अधिक गहरा हो गया है। खासकर पिछले डेढ़ दशक में तो संचार साधनों का यह विकास भारत में पूँजीवादी विकास की ज़रूरतों से ही उपजा है और यह पूँजीवादी विकास की अभिव्यक्ति ही है।

असमान आर्थिक विकास भी पूँजीवादी विकास का एक ज़रूरी लक्षण है। पिछड़े हुए इलाक़ों की तरफ़ से औद्योगिक क्षेत्रों और विकसित खेती के क्षेत्रों की तरफ़ लोगों का जाना पूँजीवादी देशों में आम प्रक्रिया है, जो कि भारत में भी बड़े पैमाने पर चल रही है। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश आदि से करोड़ों की संख्या में लोगों का विकसित औद्योगिक क्षेत्रों और विकसित खेती क्षेत्रों की ओर पलायन सबके सामने है। बस्तर के जंगल भी इससे अछूते नहीं

रहे। पेज 136 पर लेखक लिखता है, “जनवरी-फ़रवरी में गाँव के बहुत सारे आदमियों को आन्ध्र के उत्तरी ज़िलों में मिर्चे तोड़ने चले जाना था सो तीन-चार महीने के लिए उस संघ का काम लगभग ठप्प हो जाना था।” अगर लेखक बस्तर के जंगलों के लोगों के उत्पादन सम्बन्धों में आये बदलावों के नज़रिये से जरा जाँच-पड़ताल करता तो उसको और भी ऐसे अनेक तथ्य मिल सकते थे।

पेज 98 पर लेखक का कहना है, “ज़मीन हर आदिवासी के पास है। अभी वे कुछ सालों से टिककर खेती करने लगे हैं, नहीं तो वे हर साल नये स्थान पर जाकर खेती किया करते थे। गुरिल्लाओं ने दूर-दूर के आदिवासियों को वहाँ ले जाकर बसाया है और ज़मीन बाँटी है। अब उनको आन्दोलन की तरफ़ से ही ज़मीन मालिकों के पट्टे बाँटे जा रहे हैं। पुराने गाँवों के पट्टेलों (जागीरदारों) में से कुछ शहरों में जा बसे हैं।... सात-आठ साल पहले हर घर से कहा गया था कि वे जितने हिस्से के ऊपर खेती कर सकते हैं, उतना जंगल काट लें और ज़मीन को उपयोग में ले आयें।” इस हवाले से स्पष्ट है कि आदिवासी गुज़ारा किसान नहीं थे। कड़ियों ने तो जंगल काटकर ज़मीन हासिल की है। “पुराने गाँवों” के पट्टेलों (जागीरदारों) की ज़मीन आदिवासियों में बाँटी गयी है या नहीं, लेखक ने स्पष्ट नहीं किया है। यह तो स्पष्ट है कि आदिवासी न तो ज़मीन मिलने से पहले ही गुज़ारा किसान थे और न ही ज़मीन मिलने के बाद। इससे स्पष्ट ही यह नतीजा निकलता है कि अगर गुज़ारा किसान नहीं हैं तो जागीरदार भी नहीं होंगे क्योंकि गुज़ारा किसान और जागीरदार दोनों ही एक-दूसरे के अस्तित्व को तय करते हैं। यहाँ भी इस आन्दोलन की मुख्य लड़ाई सरकार, ठेकेदारों और सरकारी अधिकारियों के साथ होती रही है और आज भी है। फिर सामन्तवाद कहाँ है? ज़ाहिर है कि सिर्फ़ इस आन्दोलन के नेताओं के दिमाग़ में ही सामन्तवाद जैसी किसी चीज़ का वजूद है, भारत की धरती पर तो नहीं। कोई कह सकता है कि सामन्तवाद ख़त्म कर दिया गया है, लेकिन सामन्तवाद के ख़त्म होने के बाद पैदा क्या हुआ है? समाजवाद तो अभी बस्तर के जंगलों में निर्मित नहीं हुआ है। स्पष्ट है कि पूँजीवाद ही पैदा हुआ है। लेकिन इस आन्दोलन के नेता इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे। छोटे माल उत्पादकों के सागर में घिरे बस्तर के आदिवासी भी छोटे माल उत्पादक बन गये हैं। लेकिन ज़मीन प्राप्ति की लड़ाई सत्ता प्राप्ति की लड़ाई तक नहीं पहुँच सकी और इसकी उम्मीद करना भी परले दर्जे का भोलापन है। यही तो सशस्त्र सुधारवाद है।

आइये अब भारतीय क्रान्ति की युद्धनीति के सवाल की तरफ लौटते हैं। पेज 21 पर बंगाली साथी की टिप्पणी और पेज 43 पर कामरेड श्रीकान्त की टिप्पणी से यह बात साफ़ झलकती है कि दीर्घकालीन लोकयुद्ध द्वारा इलाका-दर-इलाका सत्ता हथियाने की युद्धनीति हिन्दुस्तान में कामयाब नहीं हो सकती। बंगाली साथी का कहना है, “आन्दोलन जंगल से बाहर के और हिस्सों और मैदानी इलाकों में फैलना ज़रूरी है और साथ ही ज़रूरी है शहरों में क्रान्तिकारी काम का फैलाव।” इसी प्रकार कामरेड श्रीकान्त का कहना है कि, “विकास अपने आप में कोई निशाना नहीं है बल्कि क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक पूरक हिस्सा है, जिसे परोक्षतः आन्दोलन को मज़बूत बनाना है। इसको आन्दोलन के फैलाव के बिना पूरा नहीं किया जा सकता है और न ही सिर्फ़ जंगल तक सीमित रखा जा सकता है।” प्रश्न उठता है कि शहरी और मैदानी इलाकों में आन्दोलन के फैलाव की ज़रूरत क्यों महसूस हो रही है? आन्दोलन का फैलाव तो आम बगावत की युद्धनीति का हिस्सा है जबकि इलाका-दर-इलाका सत्ता हथियाने के लिए ताकतों का संकेन्द्रण ज़रूरी है। जनमुक्ति के काम के लिए समर्पित क्रान्तिकारी काडर अपने अनुभव से सीख रहे हैं कि आन्दोलन का फैलाव ज़रूरी है, अगर इस आन्दोलन का नेतृत्व भी अब ऐसी ही बातें करने लगा है तो इसे अनुभववाद की इन्तिहा ही कहा जा सकता है। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला दल दीर्घकालीन लोकयुद्ध द्वारा इलाकावार सत्ता हथियाकर भारत की राज्यसत्ता पर क़ब्ज़ा करने की अपनी सोच को पिछले लगभग ढाई दशकों से अमली रूप देने की कोशिश में लगा हुआ है, लेकिन क्या इस दल को एक चौथाई सदी में हिन्दुस्तान के छोटे से छोटे इलाके पर भी क़ब्ज़ा करने में सफलता मिली है? आइये ‘जंगलनामा’ से ही इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। पेज 100 पर लेखक लिखता है, “सबसे बड़ी बात यह है कि बाहर के इलाकों पर आज की सरकार का क़ब्ज़ा है। इसका मतलब यह कि जंगल के अन्दर के इलाकों पर गुरिल्ला आन्दोलन का क़ब्ज़ा है। ये इलाके गुरिल्ला आधार इलाकों की स्थिति के नज़दीक ही पहुँचे हैं।” गुरिल्ला आधार इलाके - यह नामकरण हमारे सुनने में पहली बार आया है, गुरिल्ला ज़ोन, आधार इलाके आदि शब्द तो जाने-पहचाने हैं। शायद इन इलाकों में उपरोक्त आन्दोलन की असल स्थिति बयान करने में लेखक को मुश्किल आती हो, इसी कारण उसने ‘गुरिल्ला आधार इलाके’ की नयी शब्दावली खोज ली है।

हमारी जानकारी के अनुसार गुरिल्ला ज़ोन उन इलाकों को कहा जाता है जहाँ क्रान्तिकारियों और दुश्मनों की बराबर ताक़त मौजूद हो। दोनों एक-दूसरे को फ़िलहाल ख़त्म कर सकने में असमर्थ हों, अर्थात् रणनीतिक सन्तुलन की हालत में हों। आधार इलाके उन इलाकों को कहा जाता है जो दुश्मन के नियन्त्रण से पूरी तरह मुक्त हों। किसी इलाके को गुरिल्ला ज़ोन या आधार इलाका भी तब ही घोषित किया जाता है, जब दुश्मन के आखिरी और सबसे मज़बूत औज़ार मिलिट्री के साथ क्रान्तिकारी ताक़तों की टक्कर होती है। जिस इलाके में मिलिट्री के साथ टक्कर द्वारा क्रान्तिकारी शक्तियाँ रणनीतिक सन्तुलन की हालत में पहुँच जायें उसे गुरिल्ला ज़ोन घोषित किया जा सकता है, जो इलाका दुश्मन की फ़ौज से मुक्त करवा लिया जाये, उसे आधार इलाका कहा जा सकता है।

इस रोशनी में उपरोक्त आन्दोलन को देखें तो पिछले ढाई दशकों से यह भारतीय राज्यसत्ता के सापेक्षिक रूप से सबसे कमज़ोर पुरज़े पुलिस से ही बचाव की लड़ाई में व्यस्त हैं। यह आन्दोलन 'लोकयुद्ध' के किस पड़ाव में है, इस सवाल के जवाब से भी 'जंगलनामा' का लेखक बचता है। पूरी किताब पढ़कर लगता है कि लेखक काफी मँजा हुआ है, वह राजनीतिक अनाड़ी तो लगता नहीं कि उसे पता ही न हो कि माओवादी लोकयुद्ध के तीन पड़ाव माने जाते हैं - रणनीतिक बचाव, रणनीतिक सन्तुलन और रणनीतिक हमला, तो फिर यह आन्दोलन लोकयुद्ध के किस पड़ाव में है? हमारा जवाब है पहले में भी नहीं, क्योंकि वहाँ मिलिट्री तो बहुत दूर की बात है, अभी तक भारतीय हुक्मरानों को अर्द्ध सैनिक बल भेजने की ज़रूरत भी महसूस नहीं हुई। 'जंगलनामा' में भी सिर्फ़ पुलिस का ही बार-बार ज़िक्र आता है। किसी की ताक़त का अन्दाज़ा इस बात से भी लग जाता है कि दुश्मन उसके साथ कैसे निपटता है। स्पष्ट है कि उपरोक्त आन्दोलन में मात्रात्मक बदलाव तो आये हैं, अर्थात् आन्दोलन का फैलाव (अलग-अलग दूर-दराज़ के इलाकों में) तो हुआ है, (जो दूर-दराज़ इलाका सत्ता हथियाने की रणनीति के ही विपरीत है) लेकिन इस आन्दोलन में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आये अर्थात् यह लोकयुद्ध के एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव में दाख़िल नहीं हुआ। दरअसल आन्दोलन स्थानीय पैमाने पर कुछ सुधारों के लिए सशस्त्र कार्रवाइयों से आगे नहीं बढ़ सका। यह लोकयुद्ध का रूप ही नहीं ले सका। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के अध्यक्ष प्रचण्ड ने ठीक ही कहा है कि यह 'सशस्त्र सुधारवाद' है।



लेकिन ऐसा क्यों नहीं हो सका? इस आन्दोलन में गुणात्मक बदलाव क्यों नहीं आ सके? क्या लोगों ने कुरबानियाँ कम दी हैं? क्या लहू कम बहा है? नहीं, ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि इसके नेतृत्व की भारतीय समाज, भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम और रणनीति सम्बन्धी समझ ही ग़लत है और ग़लत समझ के ऊपर अमल करते हुए बिना सोचे खून बहाने से राज्यसत्ता नहीं जीती जा सकती।

चीन में आधार इलाक़े अस्तित्व में आ सके क्योंकि चीन एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ सामन्ती मुल्क था, जहाँ कोई केन्द्रीकृत राज्यसत्ता मौजूद नहीं थी। चीन के अलग-अलग इलाक़ों पर साम्राज्यवादी देशों का सीधा नियन्त्रण था और चीन के विशाल ग्रामीण इलाक़ों पर सामन्ती सरदारों का कब्ज़ा था। साम्राज्यवादी अपने हितों के लिए इन सरदारों को आपस में लड़ाते रहते थे, जिस कारण इन सामन्ती सरदारों की फ़ौजी ताक़त अक्सर कमज़ोर रहती थी। ऐसी स्थिति में लाल सेना के लिए अकेले-अकेले आपसी लड़ाइयों में उलझे इन सामन्ती सरदारों को दबोचना अपेक्षतया आसान था। उस समय के चीन में आवाजाही और संचार के साधन भी नाममात्र ही थे। ऐसी स्थिति में दुश्मन की सेनाओं के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचना भी बहुत मुश्किल था।

लेकिन भारत की हालत इसके ठीक विपरीत है। यहाँ एक ख़ूँख़ार केन्द्रीकृत राज्यसत्ता की मौजूदगी है। आवाजाही और संचार के साधन बहुत विकसित हैं। ऐसी स्थिति में आधार इलाक़े नहीं बना करते। ऐसी राज्यसत्ता को दीर्घकालीन लोकयुद्ध द्वारा नहीं बल्कि देशव्यापी आम बगावत के जरिये उल्टा जा सकता है। 'जंगलनामा' के प्रशंसकों-प्रचारकों को हमारी सलाह है कि वे कामरेड माओ की पुस्तक 'चीन में लाल सत्ता क्यों कायम रह सकती है' ज़रूर पढ़ें। आगे लेखक बस्तर के जंगलों में बाहरी संसार से कटे हुए आत्मनिर्भर जीवन के यूटोपिया का सृजन करता है या आदिवासी कार्यकर्ताओं द्वारा सृजित यूटोपिया के सुर में सुर मिलाता है। पेज 156-67 पर लेखक लिखता है, "यहाँ गुरिल्ले आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था लागू करने की कोशिश में हैं। जब यह स्थिति अस्तित्व में आ गयी तो दुश्मन को काफ़ी तकलीफ़ होगी और गुरिल्ले भी ज़ोरदार ताक़त बनकर उभरेंगे।" इस सोच की अभिव्यक्ति पेज 31 पर भी मिलती है, "वे शेख़चिल्ली नहीं हैं, भले ही वे स्वप्नदर्शी हैं। वे इन सपनों को हकीक़त में ढालने के लिए योजनाएँ बुन रहे हैं। जैसेकि जंगल की उपज की

खपत जंगल में ही कैसे सम्भव बनायी जाये। यह एक महान स्वप्न है, आत्मनिर्भर और अपनी उपज पर आधारित विकास का स्वप्न। जैसे माओ के चीन में हुआ।”

हाँ, चीन में ऐसा हुआ, लेकिन चीन के किसी जंगल में नहीं। इसी प्रकार भारत में जब कम्युनिस्ट सत्ता कायम होगी तो यह एक आत्मनिर्भर देश के रूप में दुनिया के नक्शे पर उभरेगा। लेकिन बेहद पिछड़ी हुई उत्पादन शक्तियों वाले इलाके में यह सम्भव नहीं हो सकेगा। बिल्कुल उस तरह जैसे यहाँ आधार इलाके अस्तित्व में नहीं आ सकते क्योंकि राजनीतिक सत्ता पर कब्ज़ा आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण की पूर्व-शर्त है।

‘जंगलनामा’ में लेखक ने कई स्थानों पर आदिवासी जीवन की बहुत ही दिलकश तस्वीर पेश की है। आदिवासी जीवन के मुक़ाबले लेखक ‘सभ्य समाज’ को बहुत फटकार लगाता है। जैसे पेज 10 पर जब गुरिल्लों द्वारा भुजिया का ख़ाली पैकेट सँभाल लेने का ज़िक्र आता है तो लेखक सभ्य समाज के ऊपर इस प्रकार नज़ला झाड़ता है, “सो वे किसी चीज़ को बरबाद नहीं करते, मैंने सोचा वैसे भी जंगल में कहीं कूड़े-करकट के ढेर नहीं हैं। कूड़ा-करकट ‘सभ्य’ मनुष्य की निशानी है। बहुतायत, अय्याशी और फिर कूड़-कबाड़ और गन्दगी। ‘सभ्य’ मनुष्य गोआ के समुद्री तट पर भी जाकर गन्दगी डालेगा और रोहतांग के बर्फ़ानी दर्रे पर भी। क़स्बों और शहरों की बात तो दूर रही, हिमालय और अण्टार्कटिका के ग्लेशियर भी इसकी मेहरबानी से नहीं बचे। ख़ैर इस सूची को यहाँ लम्बा करने की ज़रूरत नहीं है। जंगल में पॉलिथीन एक दुर्लभ वस्तु की तरह है। गुरिल्ले या तो इसका प्रयोग सुबह बाहर जाने के लिए करते हैं या फिर अपनी किताबों को बारिश के पानी से बचाने के लिए इनको रख लेते हैं। क़बाइली अपनी नदियों को गन्दा नहीं करते क्योंकि वे इनमें से पीने के लिए पानी लेते हैं। वे कुदरती टॉयलेट पेपर का प्रयोग करते हैं, यानी पत्तों का। सैर-सपाटे वाले उद्योग अभी वहाँ नहीं पहुँचे, नहीं तो हर तरह की गन्दगी ने उनके जंगलों के कुदरती और सामाजिक वातावरण में ज़हर घोल दिया होता।... यह भी अच्छा है कि सभ्य और भद्र लोगों ने अभी उस तरफ़ रुख़ नहीं किया। नहीं तो कलकत्ता और दिल्ली जैसी अपनी-अपनी गुफाएँ निर्मित हो जातीं। एक चीज़ जिसने सारे भ्रमण के दौरान मुझे आकर्षित किया वह यह कि क़बाइली लोग न तो नदियों को बेइज़्जत करते हैं, न ही उनकी पूजा करते हैं, न उनको पाप करने पड़ते हैं, न ही उनको

धोने और पश्चाताप करने का दुनियावी जोखिम उठाना पड़ता है। वे सीधे-साधे, निश्चल, निर्मल और बेबाक लोग हैं और सभ्य समाज की पेचीदगियों, बारीकियों, तीन-तिकड़मों और धोखेबाज़ियों से निर्लिप्त जीवन बसर कर रहे हैं। कपड़े भी वे कम ही पहनते हैं या पहनते ही नहीं, सो नंगेपन और शर्म-बेशर्मी सम्बन्धी 'सभ्य' समाज के झमेले से अभी दूर हैं।”

किताब के शुरू में ही आदिवासी जीवन का एक रोमांचक विवरण पढ़कर और 'सभ्य' समाज के प्रति लेखक की तकलीफ़ जानकर यूँ प्रतीत होता है मानो लेखक ने यहीं जंगलों के साफ़-सुथरे वातावरण में कुदरत के साथ एक-सुर हो सीधे यहीं रहने का मन बना लिया हो। लेकिन पुस्तक के अन्त में 'अलविदाई' शीर्षक वाला लेख पढ़कर बहुत हैरानी होती है और यह हैरानी तब और भी बढ़ जाती है, जब लेखक अपनी कॉपी, पेंसिल और किट एक आदिवासी लड़की को पकड़ाकर गन्दे, पापी, तीन-तिकड़म और धोखेबाज़ी से भरे तथाकथित सभ्य समाज की तरफ़ ही फिर लौट आता है। है न अजीब विडम्बना।

आदिवासी अगर कुदरती टॉयलट पेपर का प्रयोग करते हैं, अगर उनकी नदियों का पानी और वातावरण गन्दगी से बचा हुआ है, तो यह उनकी वातावरण के प्रति उन्नत चेतना का प्रतीक नहीं है। वे आदिवासी, जिन्होंने कभी रेल नहीं देखी, जो नहीं जानते कि दर्राँती के अलावा लोहे का और कुछ भी बन सकता है, जिनके लिए दिल्ली किसी बला से कम नहीं है, वे पर्यावरण के प्रति इतने चेतन कैसे हो गये, जैसे लेखक उन्हें पेश कर रहा है। दूसरी तरफ़ विकास के कई पड़ावों से होकर यहाँ पहुँचे 'सभ्य समाज' में लेखक को सब काला ही काला नज़र आता है। अगर आज सभ्य समाज वातावरण को तबाह कर रहा है, चोरियाँ और धोखेबाज़ियाँ हो रहीं हैं तो इसका कारण यह है कि यह समाज अभी वर्गों में बँटा हुआ समाज है। कसूर सभ्य मनुष्य का नहीं, कसूर उत्पादन के साधनों के ऊपर काबिज़ वर्गों का है, जिनकी मुनाफ़े की हवस लोगों का जीवन और वातावरण तबाह कर रही है। इसका एक ही हल वर्ग समाज को ख़त्म करके वर्ग रहित समाज का निर्माण करना है। सभ्यता के आज तक के विकास ने ऐसे समाज के निर्माण को अवश्यम्भावी बना दिया है। आज के समाज की मुश्किलों का हल जंगलों की तरफ़ लौटना नहीं बल्कि समाज की वर्तमान अवस्था से आगे जाना है। लेखक ने आदिवासियों की कपड़े न पहन सकने की मजबूरी को भी सकारात्मक बना दिया है कि वे सभ्य समाज के नंगेपन और शर्म-बेशर्मी

जैसे झमेलों से दूर हैं। लेखक महोदय, मनुष्य ने कपड़े किसी शर्म के कारण नहीं, बल्कि मौसम के प्रभाव से खुद को बचाने के लिए पहनने शुरू किये थे। हाँ, सभ्यता के विकास के दौरान कपड़े के साथ कुछ और बातें भी जुड़ गयीं।

लेखक ने तो आदिवासी जीवन की बहुत ही दिलकश तस्वीर पेश की है लेकिन वहाँ रोज़ ऐसा कठिन जीवन बिताने वालों के लिए यह जीवन इतना दिलकश नहीं है। पेज 35 पर कोसा नाम का आदिवासी गुरिल्ला आदिवासी जीवन की असलियत यूँ बयान करता है, “आप जानना चाहेंगे कि हम यहाँ क्या खाते हैं? मछली, चावल, शिकार, फल आदि बहुत लुभावनी चीज़ें लगती हैं। दूर से ऐसे लगता होगा कि जंगल की ज़िन्दगी सबसे बढ़िया ज़िन्दगी है...। आप जब कैम्प से बाहर निकलेंगे और गाँव में घूमेंगे तो आपको कोई भी आदमी या औरत बड़ी उम्र के नहीं मिलेंगे, हम मुश्किल से ही पचास तक पहुँच पाते हैं...। मौत जन्म से ही हमारा पीछा करने लगती है और पचास तक पहुँचते-पहुँचते हर किसी को दबोच लेती है।” पेज 31 पर तो कोसा, लेखक द्वारा आदिवासी जीवन की खींची दिलकश तस्वीर को तार-तार कर देता है। वह कहता है, “जिसको आप कुदरती जीवन का नाम देते हैं, वह पशु जीवन है, जानवरों से भी बदतर। हम जंगल के इन्सान जानवरों से भी नीच बना दिये गये हैं।”

इन क़बाइली लोगों के रहन-सहन के ढंग को आज के मनुष्य के आगे मिसाल के तौर पर पेश करना लेखक की आधुनिकता विरोधी, मानव सभ्यता के विकास विरोधी सोच का ही प्रकटीकरण है। आइये अब इस पुस्तक में उठते कुछ और सवालों की ओर लौटते हैं। पेज 104 पर लेखक लिखता है, “नारंग क़बाइली ज़िन्दगी में होने वाली उस हलचल का ही स्वागत करता है, जो उनको विकास के उन्नत पड़ाव की तरफ़ ले जाये, न कि उस हलचल को जो एक बुरी किस्म की लूट-खसोट को जन्म दे और उनको जानवरों से भी बदतर स्थिति में फेंक दे। दूसरी किस्म की हलचल से वह भय खाता है और इससे सदियों की चली आ रही ठहराव वाली ज़िन्दगी को प्राथमिकता देता है।”

बेशक, नारंग जैसे लोग जिस प्रकार की ज़िन्दगी बनाना चाहते हैं, उस प्रकार की हलचल का स्वागत करना तो ठीक है, लेकिन इसकी अनुपस्थिति में सदियों से चली आ रही ठहराव वाली ज़िन्दगी को प्राथमिकता देना वाजिब नहीं है। लूट हमेशा बुरी किस्म की ही होती है, लूट की कोई अच्छी किस्म नहीं होती। बेशक विकास (पूँजीवादी विकास) से, ठहराव वाले आदिवासी जीवन में जो

हलचल होगी उससे जनता की लूट-खसोट खत्म नहीं होगी, लेकिन इस विकास के कारण शहरों में लोगों का जमघट ग्रामीण जीवन के पिछड़ेपन से कहीं बेहतर है। लोगों का प्रवास उनकी चेतना की धार को तीखा करता है, कुँ का मेंढकपन टूटता है और लोगों को विकसित उत्पादक शक्तियों के सम्पर्क में ले आता है, जो कि मौजूदा जनविरोधी व्यवस्था को खत्म कर एक नया स्वस्थ समाज बनाने के लिए भौतिक और सांस्कृतिक ज़मीन तैयार करता है। दरअसल, यह मौजूदा पूँजीवाद का एक वस्तुगत नियम है, जो किसी सदिच्छा का मोहताज नहीं। यह प्रक्रिया बस्तर के जंगलों में भी शुरू हो चुकी है। अगर आज बस्तर के आदिवासी आन्ध्र के विकसित खेतीवाले क्षेत्रों की तरफ़ मिर्च तोड़ने के लिए जा रहे हैं (पेज 136), तो कल वे विकसित औद्योगिक क्षेत्रों की तरफ़ भी रुख करेंगे और ऐसा हो भी रहा है। कामरेड सोमन्ना शायद अधिक यथार्थवादी है। वह सवाल उठाता है, “क्या पूँजी का हमला यहाँ के विकास को कुदरती रूप में चलने देगा? कतई नहीं (पेज 160)।” पूँजीवादी व्यवस्था हमेशा विस्तार करने वाली व्यवस्था है। यह पिछड़े से पिछड़े क्षेत्र को भी अपने भँवर में खींच लेती है। यह बहुतां की बिखरी हुई जायदाद के छोटे-छोटे टुकड़ों को कुछ हाथों में केन्द्रित करती है और एक भारी संख्या को छोटे-मोटे निजी मालिकाने से उजाड़कर अपने कब्र खोदने वालों (सर्वहारा) की फ़ौज तैयार करती रहती है। पूँजीवाद खुद ही वे परिस्थितियाँ तैयार करता है जब लूटने वाले ही निशाने पर आ जाते हैं।

इस प्रक्रिया को रोककर उल्टा चक्र घुमाने का यत्न अज्ञानता और भोली इच्छाओं की ही उपज हो सकता है। हाँ, वक्ती तौर पर इस प्रक्रिया में रुकावट डालकर इसकी रफ़्तार धीमी करके इस पूँजीवादी जनविरोधी व्यवस्था की उम्र ज़रूर कुछ लम्बी की जा सकती है।

पेज 95 पर हमें एक और गम्भीर प्रश्न का सामना करना पड़ता है। यहाँ हमें सांस्कृतिक बदलाव के बारे में इस आन्दोलन के नेताओं की अजीबो-ग़रीब समझ के दीदार होते हैं। लेखक का कहना है, “दादा लोग संस्कृति में बदलाव की जल्दी में नहीं हैं। इसको उन्होंने ज़िन्दगी की समूची चाल के बदल जाने के प्रसंग के साथ ही जोड़ा हुआ है। नई ज़रूरतें अपने आप ही नये तौर-तरीकों, नये पहनावों, विचारों और रीतियों को जन्म देती जा रही हैं।” यह है सांस्कृतिक तब्दीली के बारे में इनकी समझ! यह है स्वतःस्फूर्ततावादी दृष्टिकोण। यह महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षाओं का निषेध है, भले ही इस आन्दोलन

के नेता मार्क्स से लेकर माओ तक की क़समें खाते हैं।

वैसे भी देखने में आता है कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की समझ मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर में बेहद सतही और अधकचरी है। ज़्यादातर मामलों में तो नासमझी का ही आलम है। इनका अन्दाज़ यह होता है कि सांस्कृतिक क्रान्ति की ज़रूरत तो राजसत्ता हथियाने के बाद होती है, इसलिए तब की तब देखी जायेगी। उपरोक्त हवालों में इसी सोच का इज़हार होता है।

नये मूल्य-मान्यताएँ, नये विचार, नई संस्कृति, नयी सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण खुद-ब-खुद ही नहीं हो जाता, बल्कि कम्युनिस्ट पार्टी की पुरज़ोर सचेत कोशिशों से ही ऐसा सम्भव हो पाता है। अगर ऐसा न होता तो समाजवाद के निर्माण के बाद चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति की ज़रूरत ही न पड़ती।

लेखक को एडगर स्नो की पुस्तक 'रेड स्टार ओवर चाइना' पढ़नी चाहिए और उससे अपने 'जंगलनामा' की तुलना करनी चाहिए। 'जंगलनामा' के लेखक ने तो बस्तर के आदिवासियों के संघर्ष का नेतृत्व करने वाली राजनीतिक शक्ति का नाम लेने से भी गुरेज़ किया है। लेकिन एडगर स्नो ने तो चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की पूरी राजनीतिक समझ ही अपनी किताब में पेश की है और कामरेड माओ का एक लम्बा 'इण्टरव्यू' भी इस पुस्तक में शामिल है। जहाँ 'जंगलनामा' का लेखक आदिवासी जीवन की एक रूमानी तस्वीर पेश करता है और सांस्कृतिक तब्दीली के प्रति स्वतःस्फूर्ततावादी दृष्टिकोण का प्रदर्शन करता है, वहीं एडगर स्नो चीन के लाल आधार इलाकों में बसने वाले चीनियों के जीवन की कोई रूमानी तस्वीर नहीं पेश करते और बताते हैं कि वहाँ लाल सेना कैसे लोगों के पिछड़े हुए मूल्य-मान्यताओं से लड़ती है। एडगर स्नो तो कम्युनिस्ट भी नहीं थे और इसके बावजूद उन्होंने चीन में हो रही क्रान्ति की एक बेहद प्रभावशाली पेशकारी अपनी पुस्तक में की है, जबकि 'जंगलनामा' का लेखक तो खुद मार्क्सवादी होने का दावा भी करता है।

'जंगलनामा' आदिवासी जीवन की एक रोमाण्टिक तस्वीर पेश करता है, क़बाइलियों के दुखों-मुश्किलों का ज़िक्र करता है। गुरिल्लों की कठिनाई और कुर्बानी भरे जीवन का वर्णन भी करता है। लेकिन इस आन्दोलन पर भारतीय क्रान्ति के सन्दर्भ में जो सवाल उठते रहे हैं, उनका ज़िक्र करने से ही बचता है। इस प्रकार राजनीतिक सवालों से किनारा करके 'जंगलनामा' का लिखा जाना, दूर-दराज़ जंगलों में रह रहे लोगों के खून का वास्ता देकर और हथियारों की

चमक-दमक दिखाकर कुछ मध्यवर्गीय मनो को लुभाने, फुसलाने का यत्न हो जाता है। यानी यह आम लोगों की मध्यवर्गीय भावुकता को उभाड़कर उनकी हमदर्दी और हिमायत को भुनाने का निराशाजनक उपकरण मात्र है। 'जंगलनामा' की जिल्द के पीछे बेहद जज़्बाती पंक्तियाँ लिखी हुई हैं, "श्रीकान्त और उस जैसों की दुनिया एक अलग ही दुनिया है। एक छोटी-सी दुनिया जो उन्होंने खुद ही बनायी है। वे सब तरफ़ फैल जाना चाहते हैं।... उनको यक़ीन है कि ऐसा ही होगा, इतिहास ऐसे ही आगे बढ़ेगा। वे खुद को एक नये भविष्य का बीज सोचते हैं; जो अंकुरित हो रहा है और जिसने कल को बड़ा होकर एक विशाल वृक्ष बनना है। यह कभी न ख़त्म होने वाला आत्मविश्वास है, आत्मविश्वास की इन्तिहा है। उनके पास इतिहास की अनेक मिसालें हैं, जिनमें इस प्रकार हुआ था। वे उनमें ही एक और मिसाल जोड़ देने की क़सम खाये हुए हैं।"

इस जज़्बे को हमारा सलाम। इस आत्मविश्वास की इन्तिहा को सलाम। श्रीकान्त, कोसा, चन्दन, राजेश, लाचक्का जैसे अनेक कॉमरेडों के कुर्बानी भरे जीवन को सलाम। लेकिन उपरोक्त पंक्तियों में हम इतना ज़रूर जोड़ देना चाहेंगे कि अगर विश्वास विज्ञानसंगत न हो, तो आत्मविश्वास की इन्तिहा भी अन्धविश्वास में बदल जाती है। खून बहना, कुर्बानी देना क्रान्ति की ज़रूरी शर्त है, लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। सिर्फ़ खून बहाने से ही समाज नहीं बदले जाते, सिर्फ़ इतिहास की मिसालों से प्रेरणा लेकर ही नया इतिहास नहीं बनाया जाता है, ज़रूरी है कि उसकी विज्ञानसंगत समझदारी भी क़ायम की जाये, सही रणनीति तय की जाये। क्रान्ति महज़ भावनात्मक कार्रवाई नहीं, एक वैज्ञानिक कार्रवाई भी है। लेकिन अफ़सोस कि बस्तर के जंगलों में आदिवासियों के संघर्ष का नेतृत्व करने वाले क्रान्तिकारी संगठन के पास दुनिया को बदलने के इस विज्ञान की बेहद कमी है।

*(यह लेख पंजाबी पत्रिका 'जैकारा' के दसवें अंक से लिया गया है।)*

मूल पंजाबी से अनुवाद - नवकाश दीप



## बिगुल पुस्तिका शृंखला की अन्य पुस्तिकाएँ

- |     |   |                          |       |
|-----|---|--------------------------|-------|
| 1.  | कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन<br>और उसका ढाँचा   | लेनिन                    | 5.00  |
| 2.  | मकड़ा और मकखी   | विल्हेल्म लीब्लेनेख्त    | 3.00  |
| 3.  | ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके   | सेर्गेई रोस्तोवस्की      | 5.00  |
| 4.  | मई दिवस का इतिहास   | अलेक्जैण्डर ट्रैक्टनबर्ग | 6.00  |
| 5.  | पेरिस कम्यून की अमर कहानी   |                          | 10.00 |
| 6.  | अक्टूबर क्रान्ति की मशाल  |                          | 12.00 |
| 7.  | लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान<br>और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में<br>मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस |                          | 30.00 |
| 8.  | संशोधनवाद के बारे में   |                          | 5.00  |
| 9.  | शिकागो के शहीद मजदूर<br>नेताओं की कहानी   | हावर्ड फ़ास्ट            | 10.00 |
| 10. | मजदूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए   |                          | 15.00 |
| 11. | मजदूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा   |                          | 10.00 |

बिगुल पुस्तिकाएँ, राहुल फ़ाउण्डेशन और परिकल्पना प्रकाशन  
की किताबें तथा अन्य क्रान्तिकारी साहित्य प्राप्त करने के लिए  
सम्पर्क करें :

## जनचेतना

प्रगतिशील साहित्य का वितरण केन्द्र

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
- कॉफी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग कॉलोनी, अल्लापुर, इलाहाबाद
- दिल्ली : 9891993332, 9213639072
- जनचेतना प्रदर्शनी वाहन : 9818651276